

# बातों की राजनीति

बद्री नारायण

मैं उन दोस्तों का आभारी हूँ जिन्होंने तद्भव अंक 20 में मेरे द्वारा उठाये गये कुछ सवालियों पर अपने बहुमूल्य सुझाव दिये। उनके सुझाव समकालीन साहित्य, समय एवं समाज के अंतःसम्बंधों के मूल्यांकन में मेरी मदद करेंगे। मुझे इस बात की खुशी है कि हिन्दी में 'खुसफुस' एवं संकेतों के माध्यम से साहित्य में जनमत बनाने वाली साहित्यिक सत्ता से भिन्न हिन्दी के महत्वपूर्ण कवि श्री विनोद दास ने एक पब्लिक स्फेयर में अपनी महत्वपूर्ण राय व्यक्त की। सचमुच साहित्य में जो घटित होता है उसका अनेक बार राजनीति एवं समाज की परिघटनाओं से प्रत्यक्ष परोक्ष सम्बंध बनता ही है। मुझे इस बात ने बल दिया कि विनोद दास ने साहित्यिक स्फेयर को निरापद एवं निर्दोष स्फेयर न मान कर उसके दैनंदिन जीवन में घट रहे सत्ता एवं शक्ति के दमनकारी सम्बंधों को लक्षित किया है एवं केवल भाववश वाक्य संरचना, फॉर्म, मुहावरों के स्तर पर मेट्रोपोल एवं मेग्लापोलीज द्वारा उत्पादित एवं प्रसारित किये जा रहे 'सेमनेस' से कवियों एवं रचनाकारों को सावधान किया है। मैंने स्वयं अपने आलेख में इस मुद्दे को अपने ढंग से उठाया है कि मेट्रोपोल के स्वीकृत मुहावरे में ही अपना अनुभव कह कर स्वीकृति पाने की चाह स्थानीय/लोक/नॉन मेट्रोपोल (अन्य कोई विशेषण चाहे तो दे दें) को 'मरण का रास्ता' ही प्रशस्त करेगा।

विनोद जी ने उसे आगे बढ़ाते हुए ठीक कहा कि ऐसे में मेट्रोपोल पर निर्भरता को तोड़ना न केवल साहित्यिक जनतंत्र के लिए वरन सामाजिक जनतंत्र के लिए भी जरूरी है। नयी तकनीक की भूमिका कई बार दमनकारी स्पेस को तोड़ कर मुक्तकारी स्पेस बनाने में हमारी मदद करती है।

एकांत श्रीवास्तव ने उस काव्य परम्परा के तत्वों की महत्वपूर्ण चर्चा की है जिन्हें बहिष्कृत करने का अभियान जारी है। यह अभियान वैसा ही है जैसा एक कवि को शाप मिला हो कि तुम्हें जीवित रहने के लिए दूसरे कवि को मार कर खाना होगा।

मेट्रोपोल में रह कर मेट्रोपोल की सड़ांध को उजागर करने के नाम पर एक क्रांतिकारी औ. चित्य (legitimacy) से जुड़ने का दावा करने वाले स्थानीय/लोक/नान मेट्रोपोल, उसके प्रति भयानक हिंसा से भरे होते हैं। यह हिंसा नकार के साथ साथ अन्य के रणनीतिक उपयोग (Appropriation) पर काम करती है। ऐसे में इस विलोपन से बचने के लिए एक 'संघर्षकामी' एवं 'दांतदार' अन्य की रचना साहित्य एवं समाज के दैनंदिन में आधिपत्य को तोड़ने का एक तर्कमूलक स्थापन हो सकती है, जिस आधिपत्य में साहित्य का दैनंदिन भी क्षण क्षण एवं सतत् प्रत्यंतरण से रचा जा सकता है। 'मेट्रोपोलीज रेडिकल' रेडिकलिज्म के एक छद्म को निभा रहा होता है एवं मेट्रोपोल तथा दमनकारी सत्ताओं की सड़ांध से उसका रिश्ता एक कृतज्ञ बैरभाव का ही होता है। ऐसे विरोध की रणनीति की मुश्किल यही है कि जिसका विरोध करें उसी की फंतासी में जियें। बदलते समय एवं राजनीति की तरह साहित्य का स्फेयर भी बदल चुका है। यह संतवाणी या छायावादी स्फेयर न होकर अनेक तरह के सामाजिक एवं शक्ति संघर्षों के स्फेयर में तब्दील हो चला है। आज या कभी भी दमनविहीन आकाशकुसुम कामना

शायद ही सम्भव रही हो।

गिरिराज किराडू ने ठीक ही कहा है कि 'लोक विमर्श के स्रोत लोक में ही नहीं, 'आधुनिक' नागर (अरबन) स्पेस में भी है। मेरे लेख का पाठ करते हुए उनकी नजरों से वह अंश कहीं ओझल हो गया जिसमें हमने स्थानीय, सीमांत प्रादेशिक (Provincial) की निर्मित की प्रक्रिया एवं प्रारूप पर बात करते हुए बाहर से उसके सतत संवाद की बात कही है। अपने आलेख के मंगलाचरण में ही मैंने कुछ निवेदन किया है, जिसमें हमने कहा है कि हमें गलत न पढ़ा जाये। नगर, ग्राम, लोक एवं आभिजात्य जैसे सरल द्विपक्षों में इसे न बांधा जाये। साथ ही मेट्रोपोल की आलोचना का अर्थ यह कतई न लगाया जाये कि हाशिया, स्थानीय एवं लोक को हम पवित्र स्पेस मानते हैं'। (पृ.94)। हमने यह भी कहा है कि एक आरा में कई आरा हैं साथ ही एक दिल्ली में कई दिल्ली। मेट्रोपोल में सीमांत की सशक्त उपस्थिति की बात भी मैंने बार बार कही है। मेरे मित्र की नजर से यह बात पता नहीं कैसे फिसल गयी। आपने देखा होगा कि मैंने लोक को पारम्परिक मानव वैज्ञानिक (एन्थ्रोपलोजिकल) लोक, भौगोलिक, गैर भौगोलिक जैसे मिथकों से बचाने के लिए ही स्थानीय, लोक, प्राविन्शियल, सीमांत जैसे कई शब्दों का प्रयोग एक साथ किया है।

एक ही बात कई बार कही जाती है पर कई रूपों में, कई सवालों को उठाने के लिए एवं कई अंदाज में। बदलते समय एवं बदलते परिवेश में एक ही बात नये अर्थ, नये भाव, नये पद एवं नये प्रश्न के रूप में बार बार पुनः उत्पादित हो सकती है। हिन्दी में वामपंथी विचार केन्द्रित आलोचना ने अपने कई प्रारूप विकसित किये हैं। उपनिवेशवाद की भी काफी तीखी आलोचना की है। नब्बे के दशक में राजसत्ता की जो क्राइसिस उभर कर आयी, ज्ञान जगत में जो उथल पुथल हुआ, सम्भव है उससे निःसृत शब्दावली वामपंथी आलोचना के पास न हो, पर ईमान पर शक करना मेरे लिए मुश्किल होगा। आधुनिकता जैसे कई प्रश्न जो हमारे साथियों ने उठाये हैं उन पर लगातार महत्वपूर्ण बातें समाज विज्ञान में हो रही हैं, उन पर ज्यादा न कह कर मैं अपनी बात आज के एक बहुत ही जहीन चिन्तक के. एन्थोनी अपैय्या की एक महत्वपूर्ण बात से समाप्त करना चाहता हूँ कि मेट्रोपोल अपनी क्षेत्रीय संस्कृति के प्रति सक्रिय रूप से बैरभावी (antagonistic) होता है। तभी तो विष्णु खरे हिन्दी में लोक शब्दों के प्रयोग की भर्त्सना की कुछ फासीवादी जैसी अपील कर जाते हैं। मुम्बई में रहने वाले मराठी ही बोलें तथा हिन्दी वही जो मेट्रोपोल के भाषिक स्रोत से बने, क्षेत्रीय, स्थानीय, प्राविन्शियल, लोक के भाषिक स्रोत उसमें न हों, अगर वे दिखें तो उनकी भर्त्सना हो। इस प्रकार एक भयानक किस्म की ठस, इकोहीन, विजुअल रहित शब्दावली में काव्य रचना को आदर्श प्रारूप मानने वाले फरमान से बनने वाली एकरसता (Sameness) की आलोचना की पालिटिक्स की जरूरत तो है ही, साथ ही कभी कभी खुल कर सामने आने वाले हमारे मनो के छुपे हुए फासीवादी आग्रहों से टकराव की जरूरत हमसे ज्यादा हमारे वे साथी समझ सकते हैं जो साहित्य एवं समाज में संज्ञोतों के केन्द्रीकरण के खिलाफ लगातार संघर्षशील हैं। लोक को अगर एक पद के रूप में भी लें तो जेम्स स्कॉट को याद करते हुए कहना चाहूंगा कि प्रभुत्व के सतत प्रत्यंतरण से जिस लोक का दैनंदिन बनता होगा, वह शायद ही कभी आथरिटेटिव हो पर हाशिये को सदैव अपने 'स्व' में उस 'अन्य' के संवाद से निर्मित होने वाले प्रभुत्व एवं अधीनस्थता के भावों से सतत संघर्ष की लम्बी प्रक्रिया से गुजरना ही होगा।